

## पुरुषाथ की अवधारणा में निहित मूल्यों का अध्ययन

डॉ० हिमांशु शेखर सिंह\*

पुरुषार्थ की अवधारणा मानव जीवन-दर्शन और जीवन पद्धति के रूप में एक ऐसी अवधारणा है जिसके अनुसार मनुष्य अपना जीवन जीता है तथा परिवार एवं समाज में विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता है। यह ज्ञान, भावना, क्रिया की सम्पूर्णता के साथ लौकिक जीवन जीने के बाद भावी जीवन जीने की एक व्यवस्था है। पुरुषार्थ दो शब्दों के योग से बना है पुरुष + अर्थ। पुरुष का अर्थ मानव से है तथा अर्थ का तात्पर्य उद्देश्य से है। इस प्रकार यदि देखा जाए तो मानव का उद्देश्य समग्रतापूर्ण जीवन जीना है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ शब्द उद्योग को भी दर्शाता है एवं इस अर्थ में इसे उद्यमशीलता भी कहा जा सकता है। 'संस्कृत'-शब्दार्थ-कौस्तुभ' में भी पुरुषार्थ को इसी अर्थ के रूप में लिया गया है। इसमें बताया गया है कि (पुरुषार्थ) मनुष्य के जीवन का प्रधान उद्देश्य है जिसकी सिद्धि के लिए उन्हे उद्यम करना चाहिए। हिन्दू संस्कृति में चार पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं जिसमें मोक्ष को ही सर्वोपरि माना गया है। मानव का मूल लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निश्चित कर्मों का सम्पादन ही पुरुषार्थ है।

### विविध पुरुषार्थः

**धर्म** : प्रोफेसर संगमलाल पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि 'धर्म या ऋत केवल एक पुरुषार्थ नहीं वरन् सभी पुरुषार्थों की जन्मभूमि है'। धर्म मानव आचरण की संहिता है जिसके द्वारा ही व्यक्ति समाज का सदस्य होकर, उससे नियंत्रित होते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और अन्त में अपने चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है। धर्म हमारे जीवन की एक ऐसी विधि है जो हमारे नैतिक आचरणों को नियंत्रित करती है। जब धर्म हमारे आचरणों से जुड़ता है तभी हमारे आचरणों पर नैतिक नियम लागू होते हैं और उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ आदि की कसौटी में हमारे आचरण को कसा जाता है। यही कारण कि धर्म को आचरण की संहिता भी कहा गया है जिसके द्वारा मानव समाज का सदस्य होकर, उससे नियंत्रित होकर अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। यदि मनुष्य में धर्म नहीं तो मानव पशु के समान ही है "धर्मेणहीना पशुभिः समानाः। धर्म ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य की प्रकृति निर्धारित की जाती है। वास्तव में धर्म नैतिक कार्यों

\*1, युनिवर्सिटी क्वार्टर्स, खाबड़ा रोड मुजफ्फरपुर-842001

का आईना है। धर्म समाज में लौकिक जीवन के कर्तव्यों का निर्धारण कर पारलौकिक जीवन में सुख प्राप्त कराता है।

हमारे वैचारिक परंपरा में 'धर्म' पद इतने व्यापक रूप से विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होता चला आ रहा है कि इसके किसी मूल अर्थ को सुनिश्चित करना समस्याप्रद ही जान पड़ता है। प्राचीन काल से विभिन्न विद्वानों ने 'धर्म' पद की व्यापकता को देखते हुए इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करते रहे हैं। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि भारतीय चिंतन परंपरा में 'धर्म' का तात्पर्य 'रिलीजन', 'मजहब' या सम्प्रदाय के रूप में नहीं लिया गया है, जो कि आधुनिक युग में सबसे सुपरिचित अर्थ में देखने को मिलता है। वस्तुतः हमारे यहाँ 'धर्म' की चर्चा व्यापक अर्थ में की गई है, मजहब या सम्प्रदाय रूपी सीमित या संकुचित अर्थ में नहीं।

एक ओर जहाँ वेद में धर्म याज्ञिक क्रिया का द्योतक के रूप में देखने को मिलता है, जो विश्व की नैतिक व्यवस्था, जिसे 'ऋत' भी कहा गया है, बनाये रखने के आधार के रूप में चर्चा की गई तो दूसरी ओर उपनिषद् में धर्म की अलग-अलग व्याख्याएँ हमें देखने को मिलती हैं। मीमांसक वेदों का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि "वेदविहित प्रयोजनः वदर्थो धर्मः"। अर्थात् वेदविहित एवं फल देने वाला अर्थ ही धर्म है। धर्म का लक्षण देते हुए मीमांसक कहते हैं—"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः"<sup>2</sup> अर्थात् प्रेरणा या उपदेश वाला अर्थ ही धर्म है। मीमांसक के अनुसार वेदविहित कर्म ही धर्म है और इसी से मोक्ष प्राप्ति होती है। मीमांसक दर्शन का प्रारंभ "धर्म जिज्ञासा"<sup>3</sup> या कर्म जिज्ञासा से करते हैं। परंतु अद्वैतवादी शंकर अपने दर्शन का प्रारंभ "ब्रह्मजिज्ञासा" या "ज्ञान जिज्ञासा" से करते हैं। शंकर के मत को देखने से प्रतीत होता है कि 'अहंब्रह्मास्मि', 'अयं आत्मा ब्रह्म' एवं 'तत्त्वमसि' महावाक्यों का ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। किन्तु अगर महर्षि कणाद के विचार को देखा जाए तो स्पष्ट रूप से यह जान पड़ता है कि उन्होंने लौकिक व अलौकिक दोनों पक्षों को समन्वित करने का प्रयास किया है। उन्होंने धर्म की चर्चा करते हुए कहा है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धि स धर्मः"<sup>4</sup>। धर्म के उपर्युक्त लक्षणों में धर्म का सामान्य अर्थ अभिप्रेत होते देखे गये हैं। इसके अलावे धर्म के कुछ विशिष्ट अर्थ भी देखने को मिलता है जैसे – अहिंसा परमो धर्मः, आचारो परमो धर्मः आदि।

धर्म के उपर्युक्त विचारोपरांत एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आता है कि क्या धर्म का कोई मूल है जो सभी विचारों में व्याप्त हो? इस समस्या का समाधान हमें धर्म के निरुक्त अर्थ से प्राप्त होता दिखाई पड़ता है जो सामान्य रूप से धर्म के सभी प्रयोगों में बना रहता है, और वह है, "धरति, धारयति वा लोकम् इति धर्मः" अर्थात् जो सबको धारण करे और जो धारण करने योग्य हो वही धर्म है।

विद्वानों ने धर्म के दो भेद किए हैं—सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म। सामान्य धर्म मनुष्य के मानवता युक्त नैतिक धर्म या नैतिकता से सम्बन्ध रखता है।

यह धर्म सामान्य रूप से सभी मनुष्यों के लिए है अतः इसे मानव धर्म भी कहा गया है। सत्य, दया, परोपकार, पवित्रता, संयम, त्याग, क्षमा, अहिंसा, संतोष, शील, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सामान्य धर्म के अन्तर्गत आते हैं जिसका पालन करना सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक माना जाता है। हमारे शास्त्रों में इसे ही सनातन धर्म कहा गया है। दूसरा विशिष्ट धर्म आता है जिसे स्वधर्म भी कहा गया है। मानव जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित कुध नियम एवं कर्तव्य बनाए गए जो परिवार एवं समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। इन्हें ही विशिष्ट धर्म भी कहा गया है। इसमें वर्ण धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, युग धर्म, स्वधर्म आदि आता है।

**अर्थ** : चार पुरुषार्थों में अर्थ को दूसरा स्थान दिया गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर गृहस्थी चलाने के लिए, जीवन यापन करने के लिए, समाज में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। सेवा, दान, यज्ञ आदि जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ होती हैं उन सभी के लिए धन की आवश्यकता होती है। इसलिए कहा जाता है कि समाज में धर्म पालन के लिए भी धन चाहिए। अर्थात् धन के बिना धर्म नहीं होता। महाभारत में कहा गया है कि जिसके पास धन नहीं है वह मृतक के समान है। **“धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वप्रतिष्ठितम्। जीवन्ति धनिनो लोके मृता यन्त्वधना नरा।।”** भारतीय नीतिशास्त्र में भर्तृहरि ने नीतिशतक में अर्थ की महत्ता को सर्वोपरि मानते हुए इसे सभी गुणों का खान बताया है। जिसके पास धन है वही अच्छे कुल और उच्च स्थिति वाला माना जाता है। उन्हें ही पंडित, ज्ञानी, तथा दर्शनीय भी माना जाता है। यहाँ तक कि सभी गुण काँचन में ही है—**“यस्यास्ति वितं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रतुवान्गुणज्ञः। स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वगुणाः काँचनमाश्रयन्ति।।”**<sup>5</sup>

इन कथनों से स्पष्ट है कि अर्थ ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सिद्धि मनुष्य के लिए नितांत ही आवश्यक है। इतना महत्वपूर्ण पुरुषार्थ होने पर भी अर्थ को धर्म के बाद ही माना गया है। अर्थात् अर्थोपार्जन धर्मानुकूल हो। अन्याय या अधर्म से अर्जित किया धन दुःख का कारण ही बनता है। इसलिये अधर्म से अर्जित किया गया धन त्याज्य है। अर्थ का आधार धर्म है।

**काम** : मनुष्य जिसकी कामना करता है, वही काम है—**“काम्यते इति कामः”**<sup>6</sup>। तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य में आचार्य शंकर ने काम को मनुष्य के कर्म का प्रवर्तक माना है—**“कर्महेतुः कामः स्यात्”**।<sup>7</sup> काम मानव जीवन का तीसरा पुरुषार्थ माना गया है। काम को व्यापक अर्थ में लिया गया है। इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा, एषणा, आदि सभी को काम का ही रूप माना गया है। महाभारत में कहा गया है कि पाँच इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि के साथ उनका जो विषयों से संयोग होता है और उस सम्बन्ध से जो आनन्द या सुख उत्पन्न होता है वही काम है। कहने

का तात्पर्य यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों के साथ आँख, नाक, कान, रसना एवं त्वचा आदि इन्द्रियों का संपर्क होता है और इस संपर्क के फलस्वरूप जो सुख या आनन्द की अनुभूति होती है वही काम है। यह विषय का आनन्द है। इसे ही काम कहा गया है। काम सूत्र में काम की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि अभिमान सहित रस से ओत-प्रोत सभी इन्द्रियों का आनन्द जिससे उत्पन्न होता है वही काम है। तात्पर्य यह है कि स्पर्श के विषयों में स्वभावतः अभिमान होता है। व्यक्ति समझता है कि यह मेरा है और मैं इससे सुख प्राप्त करूँगा। इसी अभिमान से एक प्रकार की आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से इन्द्रियों को सुख प्राप्त होता है और यही काम है।

साधारणतया काम के तीन अर्थ माने गये हैं — सुख, सुख के साधन और सुख की कामना। काम स्वयं सुख रूप है। काम सुख ही नहीं बल्कि सुख का साधन भी है और इसी को सुख का आधार भी माना गया है। परन्तु इन सबों में काम इन्द्रिय सुख के लिए सबसे अधिक प्रचलित है। इन्द्रिय सुख इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। जैसे स्त्री और पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला सुख। यदि स्त्री और पुरुष में काम की भावना न हो तो संसार चक्र ही समाप्त हो जाएगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काम का प्रयोग साधारणतः दो अर्थों किया जाता है—व्यापक अर्थ में एवं संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में काम सभी प्रकार की इच्छा, कामना, अभिलाषा आदि की ओर संकेत करता है। अपने संकुचित अर्थ में केवल यौन सुख की ओर संकेत करता है। सामान्यतया काम का अभिप्राय इन्द्रिय सुख से ही माना जाता है परन्तु मनुष्य की सभी कामनायें, वासनाओं की प्रवृत्ति काम के अन्तर्गत ही आती हैं। काम एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसके कारण मानव एक दूसरे से प्रेम करता है, आकर्षित होता है और अपनी वासना जन्य प्रवृत्ति की पूर्ति करता है। इसी कारण पत्नी एवं संतान की कामना होती है। इसके अन्तर्गत स्नेह, वात्सल्य, प्रेम, अनुराग, सौन्दर्य के आकर्षण एवं यौनेच्छाओं की पूर्ति संभव हो पाती है। काम मनुष्य को आनन्द प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है।

**काम के विविध आधार हैं** :—जैविकीय, सामाजिक तथा धार्मिक। प्रथम आधार के रूप में काम मनुष्य की जैविकीय आवश्यकता की पूर्ति करता है। मानव की इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है तो उसमें तनाव, संघर्ष एवं मानसिक उलझनें उत्पन्न होती हैं। शारीरिक ग्रंथियों की क्रियाशीलता प्रभावित होती है। तनाव बढ़ता है एवं क्रोध उत्पन्न होता है। द्वितीयतः काम के द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार नाम की संस्था के विकास में काम ही मूल है। समाज में शत्रुता, युद्ध—शांति आदि की पृष्ठभूमि काम ही है। सामाजिकता एवं व्यक्तित्व विकास में काम की महती भूमिका है। तृतीयतः काम के धार्मिक आधार के कारण इसको संयमित रूप में सक्रिय रखना, सीमाहीन रूप में काम की वृद्धि को रोकना

एवं कामेच्छा से विरति उत्पन्न करना और आत्मिक उत्कर्ष की ओर बढ़ना संभव हो पाता है। मानव का मानव से प्रेम, स्नेहादि ईश्वर की ओर उन्मुख होने लगता है और साधक मोक्ष पथ पर अग्रसर होता है। काम के वशीभूत होकर धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। काम सदा धर्मसम्मत ही सेव्य है। अतः धर्म सम्मत अर्थ एवं काम राष्ट्र को गति प्रदान करता है।

**मोक्ष:** समस्त भारतीय दर्शन में (चार्वाक को छोड़कर) इस संसार को दुःख भरा माना गया है। सबों ने एक स्वर से सांसारिक पदार्थों से प्राप्त सुख को क्षणिक माना है। शरीर इस आत्म तत्त्व का एक प्रकार से पिंजरा है जिसमें आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर अपने को शरीर रूप सा समझने लगती है जिस कारण इस सांसारिक दुःखों को अपना दुःख मानकर बँधनों में बँध जाती है। बँधन के कारण मनुष्य त्रिविध ताप से दुःखी होकर विभिन्न प्रकार के कष्टों को झेलता है। अपनी आत्मा को शरीर से पृथक समझना तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानना ही मोक्ष अथवा मुक्ति है। मोक्ष का यह विचार प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों द्वारा मान्य है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्दस्वरूप है। अगर इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। यही कारण है कि आचार्य शंकर ने ब्रह्मज्ञान और मोक्ष दोनों को एक ही माना है। अर्थात् ब्रह्म और मोक्ष दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है—**ब्रह्म विद ब्रह्मैव भवति**। इस प्रकार यदि हम देखें तो ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक ही है। बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्याजन्य है और जब बन्धन ही वास्तविक नहीं है तब मोक्ष के वास्तविक होने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। अविद्या के कारण ही जीव देहेन्द्रियकरणादि से तादात्म्य कर लेता है और अहंकार—ममकार—युक्त होकर स्वयं शुभ और अशुभ कर्मों का कर्ता, सुख एवं दुःख रूपी कर्मफल का भोक्ता मानकर जन्म और मरण के चक्र में संसरण करता रहता है। यही मनुष्य का बंधन है। जब आत्मज्ञान के द्वारा अविद्या निवृत्ति हो जाती है तो जीव स्वयं नित्य शुद्ध—बुद्ध ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। यही उसकी मुक्ति है। इस दृष्टिकोण से देखें तो जीव का न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। केवल अविद्या आती है और अविद्या ही जाती है। जैसा कि पहले कहा गया है अविद्या भ्रान्ति रूप है तो जीव का आवागमन, उसकी प्रवृत्ति एवं उससे निवृत्ति दोनों भ्रान्ति रूप है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त में आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष या ब्रह्म हेय और उपादेय रहित; मोक्ष आत्मभाव है जो सदा प्राप्त है। अतः इसे 'प्राप्तस्य प्राप्ति' कहा गया है।

आचार्य शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य का मानना है कि बन्धन और मोक्ष दोनों ही वास्तविक है। इनके अनुसार मोक्ष का अर्थ जीवात्मा का बिल्कुल ही शून्य

में विलीन हो जाना नहीं है। इसका अर्थ सामने पड़ी हुई बाधाओं को तोड़ स्वतंत्र होना है। रामानुज तिरोभाव होने का अर्थ आत्मा का विनाश से लेते हैं जो संभव नहीं है। उनका मानना है कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में परिवर्तित भी नहीं हो सकता, अतः जीव अपनी तपस्या, साधना एवं आराधना के द्वारा ऊँचा उठने का अवसर प्राप्त करता है। परन्तु सर्वशक्तिमान रूप ईश्वर उसके ऊपर रहेगा ही। मुक्त आत्मा ब्रह्म—प्रकार या ब्रह्म समान हो जाता है परन्तु ब्रह्मलीन नहीं हो सकता। रामानुज कहते हैं कि ब्रह्मलीनता का साक्षी से मिलना असंभव है। क्योंकि जो मनुष्य ब्रह्मत्त्व या ईश्वरत्त्व को प्राप्त हो चुका है, वह वापस लौटकर हमें अपना अनुभव बताएगा नहीं। जो मनुष्य ऐसी बातें करता है वह कभी भी ईश्वरत्त्व या ब्रह्मत्त्व प्राप्त नहीं कर सकता।

गीता में कहा गया है कि द्वेष और आकांक्षा से रहित व्यक्ति संसार रूपी बन्धन से मुक्त होता है। पुराणों में भी कहा गया है कि मोक्षार्थी व्यक्ति को शत्रु—मित्र में समभाव रखना चाहिए। द्रोह, लोभ, मोह, तथा कामादि का त्याग करना चाहिए। दया, क्षमा, अक्रोध, सत्य आदि गुणों का पालन करने से मोक्ष प्राप्ति संभव हो पाती है। यह द्रष्टव्य है कि आज इन गुणों का समाज एवं राष्ट्र के पुनरुत्थान में सार्थक एवं सशक्त अवदान होगा। आधुनिक मानव निषेधात्मक विचारों से आक्रान्त है। उसे भावात्मक एवं रचनात्मक आदर्शों से परिपूर्ण होना है। सदेह मुक्ति में साधक तत्त्वज्ञान के साक्षात् अनुभव के उपरांत भी समाज एवं राष्ट्र के कल्याणार्थ सतत क्रियाशील एवं अहर्निश प्रयत्नशील रहता है। बौद्ध का बोधि ासत्व, जैन का तीर्थंकर आदि ऐसे उदाहरण हैं जहाँ वे अन्य साधकों के लिए प्रेरणापुंज होकर 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की भावना से क्रियाशील रहते हैं। जीवन मुक्त लोकसंग्रही मनीषियों ने व्यक्ति, समाज, परिवार एवं राष्ट्रहित में 'जीवन यात्रार्थम्' प्रशंसनीय कार्य कर मानव के लिए शान्ति, सहिष्णुता, सद्भाव, सत्संग, त्याग, दान एवं दया का शाश्वत संदेश दिया है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि पुरुषार्थ की अवधारणा में वर्णित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मूल्यों का सच्चे रूप में सामाज के द्वारा पालन किया जाए तो भारत फिर से जगत् गुरु कहला सकता है।

#### संदर्भ सूची :

1. डॉ. संगम लाल पाण्डेय, वेदान्तिक सोसल फिलॉसफी, पृ. 45
2. मीमांसा सूत्र, 1.1.2
3. मीमांसा सूत्र 1.1.1
4. पुरुषार्थ चतुष्टय, प्रेमवल्लभ त्रिपाठी, (वैशेषिक दर्शन 1.1), पृष्ठ 42
5. भर्तृहरि, नीतिशतकम् — 41
6. पुरुषार्थ चतुष्टय, प्रेमवल्लभ त्रिपाठी, पृ. 290
7. तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

\*\*\*\*\*

